# ॥ अथ श्रीसाईसच्चरित ॥ अध्याय ५० ॥

॥ श्री गणेशाय नमः॥ श्रीसरस्वत्यै नमः॥ श्रीगुरूभ्यो नमः॥ श्रीकुलदवतायै नमः॥ श्रीसीतारामचंद्राभ्यां नमः॥ श्रीसद्गुरूसाईनाथाय नमः॥ जन्मदाते मायतात। यांचिया उपकारा नाहीं अंत। मानवदेह दिधला मजप्रत। उपजलों न जंत त्यां पोटीं॥१॥ झालों न सळ मातेच्या उदरा। अंध पंगू काणा तोतरा। उपजलों ना मुका बहिरा। जन्मलों पुरा सुपिंड॥२॥ जयाचे देव वंदी चरण। ऐसा जो उत्तम ब्राह्मणवर्ण। तेथ मी ईश्वरकृपें अवतीर्ण। जाहलों पूर्ण दैवाचा॥३॥ जन्मोजन्मीं माता पिता। कोट्यनुकोटी जन्म घेतां। परी या जन्ममरणा चुकविता। तयाची दुर्मिळता अनिवार॥४॥ जन्मदाता तोही पिता। दुजा मौंजीबंधनकर्ता। तिजा अन्नप्रदानें पाळिता। चौथा भयभीता सोडविता॥५॥ जगीं हे सर्व समसमान। परी कृपाळू सद्गुरूवीण। खरा जनक नाहीं आन। नवलविंदान परिसावें॥६॥ जननीगर्भी वीर्यनिक्षेपिता। योनिद्वारा जन्मदाता। हा तों केवळ लौकिकी पिता। सद्गुरू जनिता अलौकिक॥७॥ तो न वेंचितां वीर्याचा कण। नीचयोनिद्वारावीण। देऊनियां निजपुत्रा जनन। अनुग्रह पूर्ण करवीत॥८॥ नमो त्या जन्ममरणनिवर्तका। करुणाघना ज्ञानप्रकाशका। वेदगुह्य सच्चित्प्रतिपादका। सर्वव्यापका गुरूवर्या॥९॥ नमो संसारतमदिनकरा। आत्मानुभवसंतशेखरा। भक्तचित्तचकोरचंद्रा। कल्पतरुवरा गुरूवर्या॥१०॥ अगाध गुरूरायाचें महिमान। वर्णितां गळे वाचेचा अभिमान। बरें असावें

[1]मुकियासमान। खालवोनि मान गुरूचरणीं।।११।। पूर्वजन्मीं [2]अनवच्छिन्न। नसतां कोणी तपःसंपन्न। होई न तया संतदर्शन। त्रितापनिरसनकारक।।१२।। परमार्थ मोक्ष वा निजहित। साधावें ऐसा जयासी हेत। तेणें व्हावें संतांचे अंकित। उणें न यत्किंचित मग तया।।१३।। धन्य धन्य सत्संगती। काय वर्णावी तिची महती। तियेपासाव विवेकविरक्ति। परम शांती सद्भक्तां।।१४।। साई केवळ चैतन्यमुर्ती। अव्यक्तचि ते आले व्यक्तीं। काय त्यांची निर्विषयस्थिती। कोण निश्चितीं वानील।।१५।। भक्त भावार्थी श्रोते प्रेमळ। तयांलागीं तोचि [3]कनवाळ। प्रेमें वदे निजचरित रसाळ। केवळ जें [4]राऊळ तयांचें।।१६।। शिरीं जयाचा पडतां कर। अहंभावाचा होई चूर। सोहंभावाचा चाले गजर। आनंदनिर्भर दृश्यजात।।१७।। काय मज पामरा शक्ति। वानावया तयांची कीर्ति। ज्याचा तोच भक्तप्रीतीं। प्रकटवी पोथी कृपेनें।।१८।। लोटांगण त्या साईचरणां। अभिवंदन श्रोतृगणां। नमन साधू-संत-सज्जना। प्रेमालिंगन सकळिकां।।१९।। सहज लीलेनें वार्ता सांगती। जया गर्भीं संपूर्ण नीती। जयाचें लेणें नित्य शांती। महानुभाव ध्याती ज्या।।२०।। सूर्या उपमितां नाहीं सोई। कीं तो सूर्य अस्तास जाई। चंद्रा उपमूं तरी तो क्षयी। सदैव संपूर्ण साई हा।।२१।। तया चरणीं हेमाड विनीत। प्रेमें श्रोतयांलागीं विनवीत। परीसा जी कथा श्रद्धायुक्त। दत्तचित्त आवडीनें।।२२।। भूमी उत्तम नांगरून। बीज ठेविलें आहे पुरून। परी न वर्षतां तुम्ही [5]कृपाघन। पीक तें निर्माण होईल कां।।२३।। पडतां संतकथा कानीं। पातकांची नुरे कहाणी। पुण्यें अंकुरतीं कथाश्रवणीं। घ्या ह्या पर्वणीचा लाभ।।२४।।

---

१. मुक्यासारखे असलेले बरे २. पूर्ण ३. कृपाळू ४. घर, मंदिर ५. कृपारूपी मेघ

[6]सलोकतादि चारी मुक्ति। नलगे तेथें आम्हां आसक्ति। जडो त्या साईंची निश्चळ भक्ति। परम प्राप्ति हीच आम्हां।।२५।। आम्ही मुळींच नाहीं बद्ध। काय आम्हां मुक्तिचा संबंध। होवो संतभक्तिचा उद्बोध। तेणेंच कीं शुद्ध अंतर।।२६।। जेथें न मीतूंपणस्फूर्ती। ऐसी जे कां 'सहजस्थिती'। आम्हां व्हावी ते अभेदभक्ती। हेंचि साईप्रति मागूं।।२७।। आतां श्रोतयां हीच विनंती। वाचूं घेतां ग्रंथ हातीं। वाच्य-वाचन-वाचक व्यक्ती। एकात्मस्थिती देखावी।।२८।। सोडूनि द्यावे हेमाडपंता। कीं तो न कर्ता या सच्चरिता। केवळ भक्तांचिया निजहितार्था। कारण निमित्ता तो एक।। २९।। दैवें लाधला [7]शिंपा त्यागिती। त्यांचे हातींचें गेलें मोतीं। काय कीजे अश्वत्थोत्पत्ति[8]। व्हावें न [9]स्वार्थीं उदास।।३०।। येथें शब्दमात्रा शब्दविता। नाहीं कोणी साईपरता। तोचि श्राव्य श्रवण श्रोता। ही एकात्मता न ढळावी।।३१।। ना तरी तें नाहीं वाचन। श्रवणीं सादर नाहीं कान। जेथें न वृत्ति एकतान। [10]पारखी कवण शब्दार्था।।३२।। श्रवणीं धरा निरभिमानता। श्रोतेही साईच भावावें चित्ता। तरीच त्या श्रवणाची सार्थकता। अखंड अद्वैतता राखावी।।३३।। तेव्हांच सकल इंद्रियप्रवृत्ती। साईरूप होतील निश्चितीं। जळीं जळतरंगस्थिती। ऐसिया वृत्तीं समरसती।।३४।। तरीच ज्ञानियां परमार्थबोध। विनोदियांतें [11]विनोदामोद। [12]कविताकोविदां पदप्रबंध। ग्रंथीं या आनंद सर्वत्रां।।३५।। असो पूर्वीं या सच्चरितीं। अध्याय एकोनचत्वारिंशतीं। एका निजोत्तम भक्ताप्रती। समर्थ जो करिती उपदेश।।३६।। असतां

---

६. सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य व सायुज्य ७. मोत्यांचा शिंपला ८. ''काकविष्ठेमाजी पिंपळ'' - (वेंकटेशस्तोत्र) ९. स्वकल्याणाविषयी १०. ओळखतो. ११. विनोदजन्य आनंद १२. काव्यरसज्ञांना

ते भक्त बाबांपाशीं। भगवद्गीता-चतुर्थाध्यायासी। आरंभापासून आवर्तनासी। होते ते समयासी करीत॥३७॥ एकीकडे चरणसेवा। मुखें हळूच पाठ म्हणावा। म्हणतां संपतां तेहतिसावा। घेतला चौतिसावा म्हणावया॥३८॥ निश्चळ मनें लय लावुनी। म्हणत होते मनींचे मनीं। परी नसतां कळेसें जनीं। असणार कोठुनी काय तरी॥३९॥ म्हणूं घेतां चौतिसावा। आलें साईनाथांचिया जीवा। आतां येथें अनुग्रह करावा। सन्मार्ग दावावा भक्तोत्तमा॥४०॥ तया भक्ताचें नाम नाना। तंव बाबा म्हणती तयांना। ''नाना काय रे पुटपुटसी मना। स्पष्ट रे कां ना वदसी मुखें॥४१॥ केव्हांपासून मुखानें पाहें। कांहीं पुटपुट चालली आहे। परी आवाज परीस्फुट नोहे। ऐसें हें गुह्य काय कीं रे''॥४२॥ मग नाना वदती स्पष्ट। करीत आहें गीतेचा पाठ। इतरां न व्हावी कटकट। आहे ही पुटपुट तदर्थ॥४३॥ असो ती झाली लोकांची गोष्ट। परी मजसाठीं बोल पां स्पष्ट। तुझा तुला तरी कळे कां पाठ। पाहूं दे नीट वदले श्री॥४४॥ मग ''तद्विद्धि प्रणिपातेन''। उच्चस्वरें हा श्लोक म्हणून। दाविला नानांहीं प्रणिपात करून। ऐकतां समाधान बाबांस॥४५॥ पुढें या श्लोकाचा अर्थ पुसतां। पूर्वाचार्यकथित अर्था। यथासांग नानांहीं कथितां। बाबांनीं माथा डोलविला॥४६॥ पुन्हां नानास करिती प्रश्न। 'उपदेक्ष्यंति ते ज्ञानं। नाना पाहीं हा तृतीय चरण। करीं पां मनन तयाचें॥४७॥ त्यांतील 'ते' अक्षरापाठीं। 'अ'कारार्थी अवग्रहापोटीं। अज्ञानपदें अर्थपरिपाटी। होते कां उफराटी पाहीं पां॥४८॥ शंकरानंद ज्ञानेश्वर। आनंदगिरी आणि श्रीधर। मधुसूदनादि भाष्यकार। करिती ज्ञानपर जो अर्थ॥४९॥ तो मान्य आहे सकळिकां। तैसाच आहे मजही ठावुका।

परी [१३]अवग्रहें होणारिया [१३]कौतुका। जाणुनीयां व्यर्थ कां मुकावें॥५०॥ ऐसें म्हणून साई कृपाघन। भक्तचकोरचातकाकारण। वर्षले जे बोधामृतकण। झालें निरूपण [१४]पूर्वींच॥५१॥ परी या साईलीलेचे वाचक। सर्वांसी या अर्थाचें कौतुक। वाटलें नाहीं कांहीं साशंक। राहिले आश्चर्यकारक हें॥५२॥ असो तयांचें समाधान। जेणें होईल सप्रमाण। असा आणीक अल्प प्रयत्न। करितों 'अज्ञान' - [१५]समर्थना॥५३॥ बाबांस कोठील संस्कृत ज्ञान। ऐसीही शंका घेईल कोण। संतां न [१६]अनधीत कांहींही जाण। शंकेचें कारण आणीकचि॥५४॥ अहो 'एकेन ज्ञातेन। सर्वं हि विज्ञातं भवति' प्रमाण। कोणा न मान्य हें श्रुतिवचन। तें अपरोक्षज्ञान साईंस॥५५॥ जैसा करतलस्थित [१७]आमलक। तैसें [१८]आमूळ विश्व ज्यां देख। तया संतां काय ना ठाऊक। सविताही प्रकाशक ज्यांचेनी॥५६॥ जयातें हे एक ज्ञान। तयास कोठें उरले अज्ञान। तया विद्याजात अवगत जाण। महत्त्व कोण संस्कृता॥५७॥ असो या [१९]लीलेचे कांहीं वाचक। म्हणती ''नाना अप्रामाणिक। त्यांचा हा स्वकपोलकल्पित अप्रयोजक। अज्ञानव्यंजक अवग्रह॥५८॥ त्यांनींच रचिलें हें थोतांड। अवग्रहान्वित अज्ञानकांड। उगीच उठविला हा वादवितंड। निजज्ञान अखंड मिरवावया॥५९॥ नसताचि अवग्रह केला प्रस्थापित। ज्ञानाचे जागीं अज्ञान काढीत। ऐसा कांहीं तरी विपरीत। लावीत ते अर्थ गीतेचा''॥६०॥ परी पाहतां वस्तुस्थिती। विचार करितां सूक्ष्म चित्तीं। साईलीला एकोनचत्वारिंशतीं। कांहीं

---

१३. अवग्रह घातल्याने होणाऱ्या गंमतीला १४. अध्याय ३९ पहावा. १५. 'अज्ञान' प्रतिपादनार्थ १६. अज्ञात १७. आवळा १८. संपूर्ण १९. 'श्री साईलीला' मासिकाचे

न विसंगती कथेंत॥६१॥ असोत कोणाच्या कांहींही कल्पना। प्रामाणिक वा अप्रमाणिक नाना। परी तयांनीं केलेलिया कथना। वृथा [२०]वल्गना न म्हणावें॥६२॥ सोडूनियां नानांचा द्वेष। वाचकीं न होतां विकारवश। दूर सारितां दृष्टीचे दोष। दिसेल अशेष निर्दोष॥६३॥ साईलीला उत्तमोत्तम। अध्याय एकोनचत्वारिंशत्तम। वाचिल्यावीण या अध्यायीं [२१]निर्गम। होणार नाहीं सुगमपणें॥६४॥ भगवद्गीता श्रीकृष्णमुखीं। चतुर्थाध्यायीं [२२]ज्ञानमुखीं। चतुस्त्रिंशत्तम श्लोकीं। अज्ञानोन्मुखी प्रवचन॥६५॥ ''तद्विद्धि प्रणिपातेन। परीप्रश्नेन सेवया। उपदेक्ष्यंति ते ज्ञानं। ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः''॥६६॥ हा तो गीतेचा मूळ श्लोक। यांतील तृतीय चरणीं देख। ज्ञानपदाआधीं अवग्रह एक। 'अज्ञान' निदर्शक निघतसे॥६७॥ नाणितां मना अवग्रह। 'ज्ञान' हें पद ये निःसंदेह। तद्विरुद्ध न कोणाही दुराग्रह। तो अर्थ संग्राह्य सर्वत्रां॥६८॥ ज्ञानादेव तु कैवल्यं''। हें श्रुतिवचन सर्वत्रां मान्य। तरी ज्ञानचि तत्त्वज्ञां उपदेश्य। बंधन हें अनावश्यक त्यां॥६९॥ मी आत्मा साक्षी निर्मळ। शुद्ध बुद्ध मुक्त केवळ। प्रत्यग्भूत चैतन्य सोज्ज्वळ। अद्वयानंद अढळत्वें॥७०॥ परंतु मी नव्हे अज्ञान। अज्ञानाचें कार्यही मी न। [२३]'अयमात्मा ब्रह्म' मी जाण। [२४]'प्रज्ञानमानंद' निधान मी॥७१॥ [२५]'अहं ब्रह्मास्मि' नित्य स्फुरण। शुद्ध 'विद्या' ते हेच जाण। मी पापी अभागी दैवहीन। या वृत्तीची खाण 'अविद्या'॥७२॥ या मायेच्या पुरातन शक्ती।

---

२०. बडबड २१. गती, प्रवेश २२. 'ज्ञानयज्ञ' नामक अध्यायात २३. अथर्ववेदाचे महावाक्य २४. ऋग्वेदाचे महावाक्य २५. यजुर्वेदाचे महावाक्य

एकीचे [२६]पायी बंधस्थिती। [२७]दुजीपासाव बंधनिर्मुक्ती। या जीवाप्रती अनादि।।७३।। नामरूपाचा सकळ भ्रम। हा तों अवघा मायासंभ्रम। अनिर्वचनीय माया परम। मोठी दुर्गम तरावया।।७४।। कल्पनेचें जें जें स्फुरण। तेंच मायेचें निवासस्थान। बद्धमुक्त स्थितीचें जनन। कल्पनेमधून निश्चित।।७५।। ''ज्ञानादेव तु कैवल्यं''। [२८]अबाधित हें [२९]श्रुतिप्रमेय। परी न होतां पापकर्मक्षय। ज्ञानाचा उदय अशक्य।।७६।। जया बाणलें शुद्धज्ञान। संकल्पें तयास त्यागिलें जाण। तया नाहीं मायेचें बंधन। विकारां स्थान तें नव्हे।।७७।। शुकासारिखा परम ज्ञानी। [३०]विकल्पें झाली तयाही हानी। अज्ञान प्रकटे विकल्पापासुनी। तें गुरूवांचूनी निरसेना।।७८।। प्रवेशतां विकल्प ज्ञानीं। होय [३१]ज्ञानियाही अभिमानी। विटे [३२]कांजीच्या थेंबें [३३]दुधाणी। होतसे घाणी दुग्धाची।।७९।। म्हणोनि 'अज्ञान' समजावें आधीं। तन्निरासें मनःशुद्धि। होतांच प्रकटेल 'ज्ञान' [३४]निरवधी। अभेद समाधी लाधेल।।८०।। जया द्रव्यवैभवध्यान। विषयसेवनीं अतृप्त मन। स्त्रीपुत्रांचें अखंड चिंतन। तयाचें ज्ञान अज्ञानचि।।८१।। ऐसा धनसुतदारामोहित। ज्ञानी असतां नेणे निजहित। म्हणोनि जोंवर भक्तीविरहित। अज्ञानावृत ज्ञान त्याचें।।८२।। [३५]जीवजात अज्ञानयुक्त। अज्ञानांतुनी होऊनि मुक्त। ज्ञानी आणीक ज्ञानातीत। होणें तें निश्चित ब्रह्मरूप।।८३।। अज्ञान जातां प्रकटे ज्ञान। क्षमाशाली तो सज्ञान। गेला न जोंवर देहाभिमान। तोंवर तो आधीन प्रकृतीचे।।८४।। रामकृष्णादि जे जे अवतार। सनत्सनकादि शिष्टप्रवर। तयांच्या आज्ञेची

---

२६. अविद्येमुळे २७. विद्येमुळे २८. अत्यंत सत्य २९. श्रुतिसिद्धांत ३०. संशयाने ३१. ज्ञानीसुद्धा ३२. आंबलेल्या पेजेच्या ३३. दुधाने भरलेले मोठे भांडे ३४. परमावधीचे, आत्यंतिक ३५. जीवसमुदाय

प्रकृती किंकर। जियेनें [३६]तदितर भुलविले।।८५।। हृदयस्थ असतां सर्वांभूतीं। कोणी नेणे स्वरूपस्थिती। ऐसी या मायेची अतर्क्य स्थिती। आवरणशक्ती अगाध।।८६।। तरी ''मी कर्ता मीचि भोक्ता''। सोडिल्यावीण ही खोटी अहंता। तया हृदयस्था शरण न रिघतां। निजनिर्मुक्तता लाभेना।।८७।। नित्यानित्यवस्तुविवेचन। श्रवण-मनन-निदिध्यासन। करा व्हा शमदमादिषट्कसंपन्न। तेणेंच निवर्तन अज्ञाना।।८८।। जग मजहुनी सारें भिन्न। मी तों [३७]परिमित [३७]परिच्छिन्न। ''देह तोचि मी' हें भान। हें तों अज्ञान निर्भेळ।।८९।। ज्ञानप्रतिपादक वेदांतशास्त्र। तेथ अनुबंधचतुष्टय प्रकार। परम कारुणिक भाष्यकार। वर्णिती विस्तारपूर्वक।। ९०।। 'अधिकारी' 'विषय' 'संबंध तीन। अनुबंध चवथा म्हणजे 'प्रयोजन'। प्रयोजनाचें होतां विवेचन। अज्ञाननिवर्तन तैं कळतें।।९१।। जीवब्रह्माची जी ऐक्यता। तोच मुख्य 'विषय' या वेदांता। त्या ऐक्यप्रमेयांतर्गत जी अज्ञानता। तन्निवर्तता तें 'प्रयोजन'।।९२।। त्या मूलाज्ञानाची निवृत्ती। तीच कीं स्वरूपानंदप्राप्ती। म्हणोनि करूनि युक्तिप्रयुक्ती। अज्ञानोच्छित्ती[३९] आवश्यक।। ९३।। जों न भेदाचें निरसन। तों न कोणीही सज्ञान। देहाभिमानियांचें ज्ञान। पूर्ण 'अज्ञान' त्या नांव।।९४।। स्वयें मिरवी सज्ञान। करी [४०]अविहित कर्माचरण। जळो त्याचें जागेपण। तो कुंभकर्ण निद्रिस्त।।९५।। वेदबाह्य ज्याचें वर्तन। न करी वर्णाश्रमपरिपालन। तयाच्या चित्तशुद्धीचें साधन। अविद्यानिरसन हें एक।।९६।। सत्त्वादि त्रिगुणत्रिप्रकारें।

---

३६. इतर लोक ३७. अल्प, मर्यादित ३८. शुद्ध, चोख ३९. अज्ञानाचा नाश ४०. अयोग्य

शब्दादि विषय नाना विकारें। [४१]उपस्थ आणि जिव्हाद्वारें। ब्रह्मादि सारे ठकियेले॥९७॥ जगज्जंगम प्राणिजात। अनादि अविद्यामाया परिवृत्त। रागद्वेषादि विकारें मोहित। अज्ञानावृत हे सर्व॥९८॥ अविद्येमाजी जीव बद्ध। त्याचें प्रकटावया रूप शुद्ध। अविद्या-काम-कर्मबंध। तुटला संबंध पाहिजे॥९९॥ दुग्धें तुडुंब गळती [४२]सड। तेथेंच घट्ट चिकटले गोचिड। परी तया [४३]अशुद्धीं आवड। दुग्धाची [४४]चाड काय तया॥१००॥ पहा दर्दुर आणि भ्रमर। कमळ सुंदर दोघांचें घर। परी परागीं भ्रमरा विहार। दर्दुरा आहार चिखलाचा॥१०१॥ सन्मुख दिसे ज्ञानाचा गड्डा। अज्ञानाकडे मूर्खाचा ओढा। अज्ञानचि वाटे ज्ञान मूढा। ज्ञानाचा पाढा काय तया॥१०२॥ होतां अविद्येचें निर्मूलन। स्वयें प्रकटे ब्रह्मज्ञान। म्हणुनी अविद्येचें प्रतिपादन। आवश्यक जाण आरंभीं॥१०३॥ एका ब्रह्मज्ञानासमान। नाहीं पवित्र त्रिजगीं आन। त्याच्याच उपदेशा अत्यंत मान। त्यावीण जीवन निष्फळ॥१०४॥ बुद्ध्यादिकांचा चेष्टाविषय। ब्रह्म हें असतें ऐसें कार्य। तरी एकादें तरी इंद्रिय। तें हें होयसें दाखवितें॥१०५॥ ब्रह्मतत्त्व बुद्धिग्राही। [४५]'बुद्धिग्राह्यमतींद्रिय' पाहीं। ऐसें स्मृती गर्जतांही। श्रुतीस तें नाहीं संमत॥१०६॥ बुद्‍ध्यादिकांचा झाल्या अभाव। ग्रहणकारणचि झालें वाव। मग ब्रह्माचा अस्तित्वभाव। उरला न ठाव मानावया॥१०७॥ [४६]करणगोचर जें जें कांहीं। तें तें आहे इतर नाहीं। हें तों सर्वत्र प्रसिद्ध पाहीं। ब्रह्म कदाही असतां नये॥१०८॥ ऐसा होईल याचा अर्थ। परी तेणें होईल अनर्थ। सूक्ष्मतारतम्यपरंपरार्थ। बुद्धीही सत् निरंतर॥१०९॥ होईना कां तिचाही प्रलय। तेथेंही ती वसे सत्प्रत्यय।

---

४१. जननेंद्रिय ४२. गायीची स्तने ४३. रक्तात ४४. इच्छा, गरज ४५. भगवद्‍गीता, अ. ६/२१ ४६. इंद्रियगोचर

आत्मा विश्वाचें मूळ निःसंशय। अस्तित्वनिष्ठवलय सर्व॥११०॥ खडा मारितां घटावरती। आकारविलयें खापऱ्या उरती। घटकारा जरी निवृत्ती। खापऱ्या अनुवृत्तीदर्शक॥१११॥ जरी घटकार्याचा ध्वंस। घटास्तित्वा नाहीं नाश। खापऱ्या कारण अनुवृत्तीस। कार्यास्तित्वांश तेणेंपरी॥११२॥ शून्यत्वीं ज्याचें पर्यवसान। ऐसें न केव्हांही कार्यप्रविलापन। अस्तित्वनिष्ठ लय हें प्रमाण। सत्-प्रत्ययलीन सद्बुद्धि॥११३॥ सर्व तीर्थें व्रतें पावन। पावनाहुनी पावन ज्ञान। तया ब्रह्मज्ञानावांचून। भजनपूजन निरर्थक॥११४॥ अविद्येनें चित्त मलीन। त्या चित्ताचें मलक्षालन। नाहीं ईशभक्तीवांचून। भक्तीवीण ज्ञान उपजेना॥११५॥ म्हणुनी आधीं अज्ञान जाण। तयाचा बोध तयाचें निरूपण। होतां होईल तद्बंधनिरसन। भक्तीच प्रमाण तयातें॥११६॥ पायाळाचे डोळां अंजन। पडतां देखे भूमिगत धन। तेवीं भक्तीचें होतां अवलंबन। अज्ञाननिरसन ज्ञानोदय॥११७॥ ज्ञान तेंच स्वरूपप्राप्ति। तया मूळ अज्ञाननिवृत्ति। घडल्यावांचूनि ईशभक्ति। मायेची शक्ति अनिवार॥११८॥ ज्ञानाज्ञानाची भेसळ। अज्ञान वेंचूनि काढावें निखळ। खडे टाकूनि घ्यावे तांदूळ। आधणीं निवळ वैरावया॥११९॥ भूतीं भगवंत ठायीं ठायीं। ज्ञानयज्ञादि-उपासनांहीं। विश्वतोमुख कृष्णा जो पाही। अज्ञान दाही ज्ञानास्तव॥१२०॥ आतां ज्ञानयज्ञाचें स्वरूप। ''अहं ब्रह्मास्मि'' जेथील यूप। पंचमहाभूतें यज्ञमंडप। जीवेश्वरभेद पशु तेथें॥१२१॥ पंच इंद्रियें पंच प्राण। हेंच यज्ञाचें उपचारभरण। मनबुद्धीचिया कुंडांमधून। प्रदीप्तीकरण ज्ञानाग्नीचें॥१२२॥ यज्ञकर्ता जीव यजमान। करी अज्ञानघृतावदान। आत्मानंदरसीं निमग्न। अवभृथस्नान जीवा घडे॥१२३॥ तात्पर्य अज्ञानघृतावांचून। कदा न प्रकटेज्ञानहुताशन।

जीवेश्वरभेदातें जाळून। अभेदज्ञान प्रकट करी॥१२४॥ स्वच्छ आदर्श मलाच्छादित। वन्हिप्रकाश धूमावृत। तैसें कामक्रोधाभिभूत। अज्ञानें तिरोहित तें ज्ञान॥१२५॥ चंद्रबिंबा राहू ग्रासी। अथवा शैवाल जैसें जलासी। तैसें स्वयंप्रकाश ज्ञानासी। आच्छादी कैसी ही माया॥१२६॥ मोठमोठ्या ज्ञात्यांची मती। भ्रष्ट होऊनि जाती अधोगती। उपाय माहिती परी न तगती। आचरण करिती यथेच्छ॥१२७॥ डोळस असतां अंध होती। संग सोडूनि निःसंग वर्तती। तेहीं बळे कुसंगें नाडती। आचरण करिती यथेच्छ॥१२८॥ वानप्रस्थ गृहस्थाश्रम घेती। करूं नये तें अचूक करिती। जिया वस्तूची चिळस घेती। तीच स्वीकारिती प्रिय म्हणुनी॥१२९॥ प्रयत्नें जे पापें चुकविती। तेहीं अदृष्टें पापांत पडती। काय म्हणावें ऐसिये स्थिती। ही काय ज्ञाती ज्ञान्याची॥१३०॥ जरी मोठा ज्ञानी झाला। नेच्छी पापाचे सावलीला। तरी तो कार्याकार्यज्ञतेला। भुले दीपाला पतंगसा॥१३१॥ पाप करणें हें अज्ञान। याची तया पूर्ण जाण। परी हा काम प्रवृत्तिकारण। करी ना गुमान तयाची॥१३२॥ हें अवघें क्रियाजात। केवळ एका कामाचें चेष्टित। काम सर्वानर्थां हेत। तोच कीं परिणत क्रोधरूपें॥१३३॥ कामगतीस जैं अवरोध। तैंच तो काम होई क्रोध। पदोपदीं हा मोक्षास विरुद्ध। ज्ञानप्रतिबंधक ही वृत्ति॥१३४॥ काम-क्रोध यांचा त्रास। जडलाच आहे या जीवास। ब्रह्मस्वरूपा जवळपास। ज्ञानाचे पंक्तीस वास यांचा॥१३५॥ पाण्यावांचूनि बुडवितात। अग्नीवांचूनि जाळितात। शस्त्रावांचूनि मारतात। दोरावीण करितात बंधन॥१३६॥ तयांपुढें ज्ञानीही न टिकत। ज्ञानियां करिती पैजेनें [४७]चित। महाप्रलय करण्याचें सामर्थ्य। नकळतां ग्रासीत

---

४७. पराभूत

प्राणिया ॥१३७॥ चंदनाचे वृक्षामुळीं। जैसीं काळसर्पाचीं वेटोळीं। तैसीं कामक्रोधांची खोळी। वरूनि वेटोळी ज्ञानगर्भा ॥१३८॥ इंद्रियें बुद्धि आणि मन। हीं त्या कामाचें आयतन। तयांच्या योगें जीवाचें ज्ञान। झांकूनि मोहन घाली तया ॥१३९॥ जरी तुम्हां पाहिजे चंदन। तरी सर्पाचें करा कंदन। कामक्रोधाचें सारूनि आवरण। साधावें निधान ज्ञानाचें ॥१४०॥ न करितां सर्पाचें कंदन। लाभेल काय कवणा चंदन। कृष्णसर्प संहारिल्यावीण। पुरलेलें धन लाभेल कां ॥१४१॥ तैसें परतत्त्व आत्मज्ञान। तें पदरीं पडावया कारण। प्रकृतिजवनिका-निस्सारण। हें एकचि साधन तदर्थ ॥१४२॥ म्हणोनि आधीं इंद्रियनियमन। तेणें काम-क्रोधां निर्दळण। जीव काम-क्रोधांआधीन। अज्ञान आवरण ज्ञानास ॥१४३॥ देहाहुनी इंद्रियें सूक्ष्म। मन तयांहुनी सूक्ष्म परम। बुद्धी मनाहूनही सूक्ष्मतम। बुद्धीहुनी सूक्ष्म परमात्मा ॥१४४॥ सर्वसंसारधर्मवर्जित। ऐसें हें परात्पर परम सत। तो हा परमात्मा परमहित। तेंच अमृत निजरूप ॥१४५॥ शुद्ध बुद्ध नित्य मुक्त। तेंच तत्त्व अभेद स्थित। तेंच परमानंदभूत। प्रत्यग्भूत चैतन्यातें ॥१४६॥ जया नाम पंचीकरण। तेंच कीं मायारूपदर्शन। [४८]अध्यारोपापवादैकसाधन। व्हावया प्रबोधन तयाचें ॥१४७॥ अपंचीकृत पंचमहाभूतें। पंचतन्मात्रा वदती ज्यांतें। तत्कार्य प्राणेंद्रियमनोबुद्धीतें। 'सूक्ष्म'-शरीरता येते आत्मयाची ॥१४८॥ पहा पंचीकृत पंचभूतें। तेथूनि विराट उदया येतें। तया आत्म्याचे 'स्थूल' देहातें। 'विराट' ज्ञाते वदतात ॥१४९॥ स्थूल-सूक्ष्म-शरीरां कारण।

---

४८. अध्यारोप व अपवाद ही वेदांतशास्त्रातील एक प्रक्रिया आहे. 'अध्यारोप' म्हणजे सत्य ब्रह्माच्या ठिकाणी मिथ्या जगाचा आरोप करणे व 'अपवाद' म्हणजे हा आरोप समूळ मिथ्या आहे, असे जाणणे.

केवळ स्वस्वरूपाज्ञान। तेंच साभास 'अव्याकृत' जाण। शरीर 'कारण' आत्म्याचें॥१५०॥ हें कारणशरीर ख्यात। जें चैतन्यप्रतिबिंबयुत। केवलाज्ञाना कारणभूत। अव्याकृत अव्यक्त ज्या नाम॥१५१॥ आत्म्याचें अज्ञान तें या कारण। ना निरवयव ना सावयव ना उभय जाण। केवळ ब्रह्मत्मैकत्वज्ञान। तेणेंच कीं निरसन या देहा॥१५२॥ स्वस्वरूपीं अवस्थान। तयासीच 'मोक्ष' अभिधान। यावीण मोक्ष नाहीं आन। स्वरूपावस्थान तो मोक्ष॥१५३॥ केवल ब्रह्मात्मैकत्व-ज्ञान। जाहल्या होईल अज्ञाननिरसन। म्हणुनी अज्ञान समजावया जाण। तयाचें निरूपण आवश्यक॥१५४॥ अविद्येनें शबल झालें। तेणें ब्रह्मा शबलत्व आलें। तया 'सत्' हें नाम ठेविलें। ऐसें तें पावलें वाच्यत्व॥१५५॥ जरी अतींद्रिय मूळचें वहिलें। 'बुद्धिग्राह्य' वाचेनें केलें। तेव्हांच तें मनीं प्रविष्टलें। आकारा आलें ॐकारें॥१५६॥ या ॐकारब्रह्माचें ध्यान। सवें करितां ईश्वरस्मरण। होई जयाचें देहावसान। पावे जनन सार्थक॥१५७॥ असो या वाच्य-ब्रह्मापासाव। अव्यक्ताचा प्रादुर्भाव। अव्यक्तापासूनि महत्तत्व। उपजे अहंभाव त्यापोटीं॥१५८॥ पंचतन्मात्रा अहंकारीं। पंचमहाभूतें त्यामाझारीं। पंचमहाभूतांचिया उदरीं। जग निर्धारीं जन्मलें॥१५९॥ अविद्यामाया रूपदर्शन। तेंच या जगाचें रूपलक्षण। या अविद्येचें कराया निरसन। अज्ञानविवेचन आवश्यक॥१६०॥ अत्यंत विशुद्ध आणि निर्मळ। जें चिन्मात्र स्वरूप केवळ। त्याहुनी वेगळें जें तें 'शबल'। दोघांची भेसळ करितां न ये॥१६१॥ लक्ष्य ब्रह्म जाणा निराळें। वाच्याहून तें अत्यंत निराळें। म्हणून हीं अज्ञानाचीं पडळें। उपदेशबळें सारावीं॥१६२॥ निद्रेमाजीं पडतां स्वप्न। डोळे नसतां डोळस मन। स्वयें देखे अखिल त्रिभुवन। अविद्याकारण या सर्वां॥१६३॥ पाहूं जातां वस्तुएक। परी

आभासे ती आणीक। रज्जू भासे सर्प देख। रजत शुक्तिके-गर्भांत॥१६४॥ पहा सूर्याचे किरण केवळ। जन म्हणे तया 'मृगजळ'। परी हा केवळ मायेचा खेळ। ज्ञानीही हतबळ इजपुढें॥१६५॥ पेटलेलें कोलीत हातीं। जेव्हां कोणी गरगर फिरविती। अग्निकंकण दृष्टोत्पत्तीं। येतें ही ख्याती मायेची॥१६६॥ पाहूं जातां अग्नि खरा। अलातचक्रा नाहीं थारा। तैसाच हा मायामोहपसारा। नसतिया संसारा उत्पादी॥१६७॥ ऐसिया निर्धारें गेलिया भ्रम। संसार तेव्हांच पावे उपरम। मी देह माझें कलत्र धाम। व्यर्थ परिश्रम हा सारा॥१६८॥ पुत्रपश्वादि तृष्णापाश। इंहीं वेष्टिले जाऊनि अशेष। म्हणविती ज्ञानी पंडितेश। सुख न लवलेश गांठीस॥१६९॥ शास्त्रकुशल प्रज्ञावान। दुजा नाहीं आपणासमान। अंतरीं मोठा हा अभिमान। असमाधानकारक॥१७०॥ हेच माया वा अज्ञान। अथवा अविद्या-प्रकृतिप्रधान। आरंभी ज्ञानी यांचेंच निरसन। करितां मग ज्ञान उपतिष्ठे॥१७१॥ ज्ञान हें तों स्वयंप्रकाश। करणें नलगे याचा उपदेश। अज्ञानाचा होतां निरास। ज्ञानोल्लास प्रकटेल॥१७२॥ तेजःपुंज एकादें रत्न। जातां केरा-मातींत दाटून। गेलीं वर्षांचीं वर्षें लोटून। बुजालें स्मरण तयाचें॥१७३॥ कर्मधर्मसंयोगप्राप्ती। कदाकाळीं लागतां हातीं। वाटे हरपली समूळ दीप्ती। दगड मातीसंगतीं॥१७४॥ पुढें तें स्वच्छ घासतां। वरील काटमाती जातां। पावे तें पूर्वील तेजःपुंजता। तैसीच अवस्था ज्ञानाची॥१७५॥ माती-काट तें अज्ञान। याच अज्ञानें आवृत ज्ञान। करितां काट-मातीचें निरसन। उजळेल रत्न सहजेंच॥१७६॥ पापकर्मविनाशक। नित्यानित्यवस्तुविवेक। तोचि सत्त्वशुद्धिप्रदायक। तोचि उत्पादक ज्ञानाचा॥१७७॥ हें जग मायेचा बाजार। खऱ्या नकली वस्तु अपार। खऱ्या म्हणुनी नकली घेणार। ऐसें गिऱ्हाईक फार तेथें॥१७८॥ तरी

निवडावी कैसी नकली। भल्याभल्यांची बुद्धी थकली। जिये लक्षणीं आणावी भुली। ती तंव समजलीं पाहिजेत॥१७९॥ म्हणोनि सवें लागे पारखी। नकली कां दिसे खऱ्यासारखी। हे[४९]तो दावील देखादेखीं। जाईल शेखीं अज्ञान॥१८०॥ अज्ञान जातां राहील ज्ञान। होईल सहजचि मायानिरसन। उरेल तीचि सद्वस्तू जाण। नलगे प्रमाण प्रत्यक्षा॥१८१॥ सोज्ज्वल जरी बुद्धीचे डोळे। कल्पनातिमिरे असती झांकोळले। हें तिमिर उपदेशें पळे। उरे जें सगळें तें ज्ञान॥१८२॥ वस्तुतः जरी मार्गीं माळ। दृष्टी देखतां सांजवेळ। माळ असतां भासला व्याळ। अज्ञानपडळ कारण त्या॥१८३॥ खिशामाजील गुप्त दीप। उजळितां झाला अज्ञानलोप। प्रकट झालें खरें स्वरूप। व्यालत्व आपाप मावळलें॥१८४॥ म्हणोनि अज्ञानाचा अपाय। घालवावया उपदेश उपाय। तदर्थ ज्ञानी झिजवोनि काय। अज्ञान तें काय उपदेशिती॥१८५॥ असतां प्रपंचीं वर्तमान। प्रसंगें प्रारब्धें जें आपन्न। तें भूतकार्य अज्ञानजन्य। आधीं हें ज्ञान आवश्यक॥१८६॥ "सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म।" अविद्या माया सकळ भ्रम। या जैं होईल उपरम। तैंच संभ्रम ज्ञानाचा॥१८७॥ ज्याचा गेला न देहाभिमान। तयासी कोण म्हणे सज्ञान। अभिमानाचें अधिष्ठान। त्या नांव अज्ञान मूर्तिमंत॥१८८॥ जयास म्हणती मायेचा पूर। जयामाजीं हें जगत चूर। तो हा देखत भूलसंसार। अज्ञान मूलाधार तयास॥१८९॥ अज्ञानापासाव याचा उद्भव। अज्ञानजनित याचें वैभव। एकत्वीं जो अनेकत्वभाव। तयाचा ठाव अज्ञान॥१९०॥ किंचित् प्रकाश [५०]किंचिदंधार। ऐसिया समयी मार्गींचा दोर। दोरचि असतां भासे[५१]विखार। भय अपार वाटतसे॥१९१॥ सर्पाभास केवळ अज्ञान। त्या अज्ञानें

---

४९. सद्गुरु ५०. थोडासा अंधार ५१. सर्प

झांकिलें ज्ञान। न होतां हें अज्ञाननिरसन। होईना मन निर्भय।।१९२।। कोणास भासे [52]सुमनमाळा। कोणास दिसे [53]दंड डोळां। एवंच हा भासचि सगळा। भ्रांतीच्या अवकळा अनिवार।।१९३।। केवळ [54]आगमवचनानुसारी। जो आस्तिक्यश्रद्धानुकारी। तोच ब्रह्मज्ञानाधिकारी। नास्तिक जन्मजन्मांतरीं नेणेच।।१९४।। विश्व हें [55]विपरीतदर्शियां भ्रम। त्यांचा न फिटे जन्ममरणक्रम। ब्रह्मतत्त्व [56]तयां जें दुर्गम। तें अत्यंत सुगम अधिकारियां।।१९५।। येथें न कामीं येई प्रवचन। अथवा अनेक वेदस्वीकरण। अथवा न मेधा ग्रंथार्थधारण। ग्रंथावलोकन बहुश्रुतता।।१९६।। शब्दें होईल शब्दज्ञान। तेणें कां होईल वस्तुविज्ञान। बुद्धिअतिविवेकसंपन्न। वस्तू न तदधीन केव्हांही।।१९७।। श्रुतींनी मोठी बांधिली हांव। परी न लाधतां वस्तूचा ठाव। परतल्या ऐसें वस्तूचें वैभव। खुंटली धांव जाणिवेची।।१९८।। षड्दर्शनें टेकीस आलीं। अद्यापि वादच करीत राहिलीं। आत्मवस्तु ठायींच ठेली। शब्दा न आकळली केव्हांही।।१९९।। झाले मोठे शब्दपंडित। वस्तु-सूर्यापुढें खद्योत। एकदां झालिया वस्तु प्राप्त। मावळे समस्त शब्दजाल।।२००।। जगीं पहा अंधारे रातीं। दीपप्रकाशें क्रिया चालती। परी सूर्योदय होतां प्रभातीं। उपेक्षिती दीपातें।।२०१।। तरी जें नव्हे वाचेचा विषय। होईल कैसें तरी उपदेश्य। म्हणोनि अज्ञाननिरसन ध्येय। असावें आख्येय वक्त्यातें।।२०२।। एक

---

५२. फुलांचा हार ५३. काठी (हे सर्व त्या मंद प्रकाशातील दृष्टीवरचे भास) ५४. वेदशास्त्राच्या वचनाला अनुसरून जो आस्तिक बुद्धी धारण करतो. ५५. उलट म्हणजे अयथार्थ दृष्टीने पाहणाऱ्या लोकांना चराचर विश्व हे विश्वरूपाने दिसते, हा त्यांचा भ्रम आहे. (वस्तुतः तत्त्वदर्शी-यथार्थदर्शी लोकांना 'विश्व नसून विश्वात्मा' दिसतो.) ५६. अज्ञानी म्हणजे विपरीत ज्ञानी लोकांना

अस्तित्वबुद्ध्या उपासन। तेणेंच आत्मा होऊनि प्रसन्न। करी निजतत्त्वभाव-प्रकाशन। होई उपलभ्यमान उपासकां।।२०३।। आत्म्याचे ठायीं परमात्मध्यान। दोन्हीमाजीं अभेदानुसंधान। येणेंपरी करितां उपासन। आत्माचि प्रसन्न उपासकां।।२०४।। तयां नाहीं अन्य साधन। तेणेंचि व्हावें लागे प्रसन्न। साधक पाहुनी आत्मप्रवण। आत्मा त्या आपणचि करी कृपा।।२०५।। होतां ग्रंथाची विषयसमाप्ति। वक्ते श्रोतयां सदैव प्रार्थिती। श्रवणश्रमार्थ क्षमा मागती। ही शिष्टरीती सर्वत्र।।२०६।। तैसें नव्हे या सच्चरितीं। कर्तृत्व याचें न माझे माथीं। स्वयें साईच निजकथा लिहवती। लेखणी मज हातीं देऊन।।२०७।। म्हणुनी नव्हे मी ग्रंथकर्ता। येथें न श्रांत कोणी मजकरितां। क्षमा कीजे श्रोती म्हणतां। आदळे माथां कर्तृत्व।।२०८।। मज नाहीं येथें भूषण। किंवा नातळे अंगा दूषण। जेथें साईच कर्ता आपण। तयाचेनि संपूर्ण हा विषय।।२०९।। घेऊनि साईंचें अनुज्ञापन। केलें त्यांनीं जैसें कथन। तैसें तैसें मीं केलें लेखन। अज्ञानविवेचन श्रवणार्थ।।२१०।। प्रकट कराया निजवैभव। आपुला प्रताप आपुला गौरव। प्रवेशोनि मजमाजीं स्वयमेव। विषयार्थ गुरूदेव प्रकाशी।।२११।। देईल जो या ग्रंथा दूषण। अथवा त्याचें मानी जो भूषण। ते दोघे मज वंद्य पूर्ण। निजनारायणस्वरूप।।२१२।। भक्ताचिया परम हिता। स्वयें निर्मोनि निजचरिता। हेमाडाचिया धरोनि हातां। कथा लिहविता श्रीसाई।।२१३।। जयाचा शरीरपरिग्रह। केवळ करावया लोकानुग्रह। खंडावया कुतर्क दुराग्रह। लोकसंग्रह रक्षावया।।२१४।।

म्हणोनि हेमाड तया चरणीं। अनन्यभावें येई लोटांगणीं। पुढील रसाळ कथांच्या श्रवणीं। व्हावें श्रोतृगणीं सावचित्त।।२१५।। स्वस्ति श्रीसंतसज्जनप्रेरिते। भक्त हेमाडपंतविरचिते। श्रीसाईसमर्थसच्चरिते। अज्ञाननिरसनं नाम पंचाशत्तमोऽध्यायः संपूर्णः।।

।। श्रीसद्गुरूसाईनाथार्पणमस्तु।। शुभं भवतु।।